ISSN 0974-8857

तुलसी प्रज्ञा

TULSÍ PRAJÑÁ

वर्ष 41 • अंक 162-163-164 • अप्रेल-दिसम्बर 2014

A Peer Reviewed Research Quarterly

जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान) भारत
JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE
Ladnun - 341 306, Rajasthan, India

Scanned with CamScanner

तुलसी प्रज्ञा ISSN 0974-8857

TULSĪ PRAJÑĀ

A Peer Reviewed Research Quarterly of Jain Visva Bharati Institute

YEAR-41 • VOL.-162-163-164 APRIL-DECEMBER, 2014

अनुक्रमणिका / CONTENTS

ENGLISH SECTION

Subject	Author	Page No.
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	7-12
Understanding Spirituality And Science	Prof. S.R. Bhatt	13-26
14 *Dhārā*s (Sequences and Sub-sequences) of *Trilokasāra* of Nemicandra (10th C CE) [1]	R.S. Shah	27-45
Managing Obesity in Adolecent School Children Through Yoga-Preksha Meditation	Chander Ramesh , Bala, Raj , Mishra Jpn	46-53
Relative Economics- A Paradigm of Transformation in System	Dr. Samani Rohini pragya	54-60
Applied Jain Non-violence: Meditation as a Remedial Approach	Dr Samani Shashi Prajñā	61-66
Countering the Stress in Children	Dr. Rashmi Dhar	67-74
Gāruḍa Upaniṣad: Mythology and Philosophy	Bidisha Choudhury	75-84
Achyarya Tulsi, Aṇuvrata and Social Work	Pratap Chandra Behera	85-90

Scanned with CamScanner

हिन्दी खण्ड

विषय	लेखक	पृ. संख्या
गीता दर्शन में त्याग की अवधारणा	डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी	91-97
उत्तराध्ययन सूत्र में मानवीय मूल्य : एक विमर्श	डॉ. समणी संगीतप्रज्ञा	98-105
उपनिषदों में अहिंसा के स्वर	डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा	106-111
गांधी का मानवीय अर्थशास्त्र	डॉ. जुगल किशोर दाधीच	112-118
अद्वैत एवं बौद्ध दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. योगेश कुमार जैन	119-128
संस्कृतकाव्यशास्त्र एवं प्राकृतकाव्यसाहित्य	डा. सुमन कुमार झा	129-138
आचार्य तुलसी का स्वस्थ समाज संरचना में योगदान	डॉ. सुनीता इन्दोरिया	139-144

Scanned with CamScanner

अद्वैत एवं बौद्ध दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन

(माध्यमिक-शून्यवाद-योगाचार एवं विज्ञानवाद के संदर्भ में)

– डॉ. योगेश कुमार जैन

दर्शन शब्द दृश् (दर्शनार्थक) धातु से निष्पन्न हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है। **"दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्"**1 जिसके द्वारा तत्त्वबोध संभव हो तथा **"दृश्यते इति दर्शनम्"** जिसका तत्त्वबोध हो। भारतीय दर्शन के संदर्भ में प्रथम व्युत्पत्ति ही सार्थक है। भारतीय दर्शन में वेदान्त-पूर्वमीमांसा, न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग ये सभी वैदिक दर्शन हैं तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक ये अवैदिक दर्शन माने जाते हैं। शंकर का अद्वैत वेदान्त उपनिषदों पर आधारित दर्शन है। अद्वैत का तात्पर्य है मात्र ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं है। यह ब्रह्म निर्गुण, निराकार और त्रिकाल अबाधित माना गया है। जीव और ब्रह्म में मूलतः अभेद होने पर भी माया के कारण उनमें भिन्नत्व दिखाई देता है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकर ने अद्वैत ब्रह्म की व्याख्या इस प्रकार की है–

"अस्य जगतों नामरूपाभ्यां व्याकृतस्या अनेककर्तृभोक्तसंयुक्तस्य
प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाकलाश्रयस्य
मनसा अपि अचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्ग यतः
सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः करणाद् भवति, वद् ब्रह्म"2

अर्थात् नाम-रूप के द्वारा अव्यक्त, अनेक कर्त्ताओं एवं भोक्ताओं से संयुक्त ऐसे क्रिया और फल के आश्रय जिसके देश, काल और निमित्त व्यवस्थित है, मन से भी जिसकी रचना का विचार नहीं हो सकता है। ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान कारण से होती है, वह ब्रह्म सर्वव्यापक, अधिष्ठाता, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है।

वेदान्त में ब्रह्म की सत्ता व्यावहारिक, दैशिक, कालिक एवं वैचारिक सत्ताओं से विलक्षण है।3 द्रव्य रूप में सत् न होकर भी यह बराबर जगत् का अधिष्ठाता है। समस्त सामान्य

विशेष, चेतन-अचेतन वस्तुओं का ब्रह्म में ही अन्तर्भाव होता है। ब्रह्म का अस्तित्व विलक्षण है, वह अतिसूक्ष्म होने के कारण मन और वाणी से अग्राह्य है किन्तु अभाव रूप नहीं है–

"ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभावावसान्"[1]

ब्रह्म के अस्तित्व का निरूपण किसी अन्य वस्तु के दृष्टान्त के आधार पर असंभव है, क्योंकि न तो कुछ भी ब्रह्म के समान है और न ही असमान। वह सभी भेदों, यहां तक कि स्वगत भेद से भी परे है। शंकर जीव और ब्रह्म के अभेद को स्वीकार करते हैं। "अहं ब्रह्मास्मि" (बृ. उप.) तत् त्वमसि (बृ. उप.) आदि उपनिषद् वाक्यों के आधार पर शंकर जीव एवं ब्रह्म में अभेद की स्थापना करते हैं।

ब्रह्म सत्-चित् एवं आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म की यह आनन्दरूपता नैयायिकों को अमान्य है। वहां मुक्ति आनन्द स्वरूप नहीं है।[3] कान्ट भी शुद्ध वस्तु के बोध को असंभव मानता है। किन्तु शंकर वेदान्त का परम साध्य ब्रह्मज्ञान ही है। वह प्रमाणों का विषय नहीं है, वह स्वतः साध्य एवं स्वतः प्रकाश्य है। उसे सत्-चित् और आनन्द कहने का तात्पर्य यही है कि वह असत् उचित दुःख से भिन्न है। उसे संसार के किसी भी पदार्थ की उपमा नहीं दी जा सकती है। इसीलिए उसके लिए नेति-नेति शब्दों का प्रयोग किया गया है। नेति का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म में किसी भी गुण का आरोपण नहीं किया जा सकता है। पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा भी इसी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं।

वेदान्त में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण दो दृष्टियों से किया गया है, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक। व्यावहारिक दृष्टि से विचारित ब्रह्म सगुण कहलाता है, यह उसका तटस्थ लक्षण है। माया विशिष्ट यह ब्रह्म ही ईश्वर कहलाता है। पारमार्थिक दृष्टि से यह निर्गुण कहलाता है जो उसका स्वरूप लक्षण है। परमार्थतः ब्रह्म और जगत् में कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। माया से औपाधिक इस ब्रह्म को अपर ब्रह्म कहा है। यही जगत् का कारण है, किन्तु इस कारणत्व से ब्रह्म के स्वरूप एवं धर्म में कोई परिवर्तन नहीं आता है, क्योंकि उत्पत्ति, स्थिति और लय में ब्रह्म अधिकारी रहता है। जगत् की उत्पत्ति आदि की इच्छा भी माया से औपाधिक ब्रह्म में ही है। यही ब्रह्म ही जगत् का कारण है, यही निमित्त है, यही उपादान है, क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य कोई उपादान जगत् में है ही नहीं। ब्रह्म और ईश्वर में पारमार्थिक स्तर पर कोई भेद नहीं है। अपर ब्रह्म ही ईश्वर है और पर ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष है। यही ब्रह्म माया से औपाधिक होकर नाम-रूप से विशिष्ट होता हुआ उपासना के लिए वर्णित होता है और ईश्वर कहलाता है। यद्यपि यह ब्रह्म का औपाधिक रूप मात्र है तथापि उसका महत्त्व कम नहीं है, वही जीवों को उनके फल प्रदान करता है।

जीव, वेदान्त में मान्य दूसरी व्यावहारिक सत्ता है, यह माया से औपाधिक जीव परमार्थतः ब्रह्म ही है। ब्रह्म की मलिन सत्वप्रधान अविधा से उपाहित हुआ यह जीव चैतन्यांश है। माया

से वशीभूत यही जीव सुख-दुःख आदि बन्धनों में बंधता हुआ नाना विषयक योनियों में विचरण करता है। यही कर्त्ता एवं भोक्ता है। किन्तु इसका कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व ईश्वराधीन है। कर्त्ता एवं भोक्ता जीव की तीन अवस्थाओं स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय इन पांच कोषों पर आधारित है। जीव का कारण शरीर अविद्या निर्मित आवरण ही है। वेदान्ती जीवों की अनेकता को स्वीकार करते हैं। यहां ब्रह्म ही अविद्याजन्य अन्तः करणोपाधि के द्वारा अनेक जीव भावत्व को प्राप्त करके संसारी बनता है।

शंकराचार्य के अनुसार यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है, माया की सृष्टि है। ब्रह्म और जगत् के इस द्वैत का हेतु अविद्या है। अविद्या के कारण ही जीव को परमार्थ सत्य, आत्मरूप का बोध नहीं होता है और उसे नाम रूपात्मक जगत् की ही परमार्थ रूप से सत्य की प्रतीति होती है। इस अविद्या की निवृति पर ही जीव को आत्म स्वरूप का बोध होता है। यह अविद्या ही जगत् को उत्पन्न करने वाली बीज शक्ति है– **"अविद्यात्मिकहि बीजशक्तिः"**[6] और इस बीज शक्ति का विनाश आत्मविद्या के द्वारा संभव है– **"विद्यय तस्या बीजशक्ते दोहात"**[7]।

शंकर जगत् की व्यावहारिक सत्ता मानते हैं। वे प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक तीन प्रकार की सत्ताएँ मानते हैं। क्षणिक विषय जैसे स्वप्नादि प्रातिभासिक सत्ता है, घट पट आदि व्यावहारिकता सत्ता है, किन्तु इन दोनों सत्ताओं का बोध जिससे होता है वह शुद्ध सत्ता ही पारमार्थिक कहलाती है। यह सत्ता त्रिकाल अबाधित है। यही कारण है कि यह जगत सत्-असत् विलक्षण कहा गया है।

वेदान्ती जगत् को विवर्त मानते हैं। माया सत्-असत् से विलक्षण, अनिर्वचनीय है। माया की दो शक्तियाँ आवरण और विक्षेप हैं। माया आवरण शक्ति द्वारा उसे अन्य रूप में उद्भासित करती है। इस प्रकार माया की आवरण शक्ति ब्रह्म-साक्षात्कार की बाधक है और विक्षेपकारी शक्ति नाम रूपात्मक मिथ्या जगत् की निर्मात्री है। यह जगत् ब्रह्म का तात्विक परिवर्तन नहीं है, ब्रह्म और जगत् में विवर्तभाव है। शंकर सत्कार्यवादी होकर भी विवर्तवादी हैं, परिणामवादी नहीं। आत्म बोध के अभाव में जीव इस विवर्तरूप जगत् की समस्त वस्तुओं से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। तथा यही बन्धन है। जब बन्धन कारक अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तब जीव मुक्त कहलाता है।

शंकर वेदान्त में बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था को पारमार्थिक न मानकर व्यावहारिक ही माना गया है। स्वरूपतः मोक्ष नित्य है, अविद्या निवृत्ति होने पर आत्मबोध स्वतः हो जाता है। यहां मोक्ष कोई नवीन अवस्था नहीं है, यह अपने भूले हुए स्वरूप का साक्षात्कार मात्र है। मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है तथा उपरोक्त भेद परिस्थिति के अनुसार किये गये हैं। जब जीव अविद्या आदि से निवृत हो जाता है किन्तु प्रारब्ध के अनुसार उसका शरीर बना रहता है, यह जीवन मुक्ति है और शरीर बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाना विदेह-मुक्ति है। मुक्ति में साधक स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है। मुक्ति यहां आनन्द स्वरूप है।

माध्यमिक शून्यवाद

माध्यमिक शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन है। शून्यवादी आन्तरिक एवं बाह्य समस्त सत्यों को शून्य मानते हैं। वे व्यावहारिक जगत् की सत्ता को अस्वीकार करते हैं और दूसरी ओर परमार्थ को भी शून्य मानते हैं। सर्वदर्शन संग्रह में मध्वाचार्य ने कहा है कि शून्यवादी त्रिविध निषेध को मानते हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं और एक के असत्य होने पर तीनों असत्य हो जाते हैं। "शुक्ति में रजत भान" में आरोपित वस्तु, उसके सम्बन्ध में होने वाली दार्शनिक क्रिया और द्रष्टा इनमें से एक भी असत् होने से सभी का निषेध हो जाता है। इस प्रकार शून्यवादी सामान्य आदि किसी भी सत्ता को नहीं मानते हैं। यहां तत्त्व शून्य है जो ज्ञान की चारों कोटियों, सत्, असत्, उभयात्मक एवं अनुभयात्मक से परे है।

नागार्जुन शून्यता को अनिर्वचनीय मानते हैं इसीलिए तत्त्व और जगत् दोनों को सत्-असत् से विलक्षण मानते हैं। तत्त्व और वस्तु दोनों ही शून्य है। व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर यह सापेक्षता प्रतीत्य समुत्पाद या संसार है, जिसमें तत्त्व का अभाव है और पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर यह निर्वाण या नानात्व का अभाव है। इस प्रकार तत्त्व एवं जगत् दोनों ही स्वभाव शून्य हैं। शून्य का तात्पर्य अभाव नहीं है, स्वभाव रहित है। यह जगत् न तो शाश्वत रूप से सत् है और न ही असत् है, यह व्यावहारिक सत् है। महात्मा बुद्ध शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों को मिथ्या मानकर मध्यम मार्ग को अपनाते हैं। माध्यमिक जगत् की व्याख्या स्वप्न, माया, प्रतिबिम्ब आदि के रूप में करते हैं, किन्तु उनका पूर्ण अभाव नहीं मानते हैं। उनका तात्पर्य केवल इतना है कि यह संसार पूर्ण रूपेण सत्य नहीं है, वह भ्रम मात्र है। जिस प्रकार रज्जु-सर्प के भ्रम में अधिष्ठान रज्जुरूप है, उसी प्रकार यह जगत् भ्रम है और उसके अधिष्ठान रूप में एक ऐसा तत्त्व है जो प्रपंचातीत, निर्विकल्पक और अनानार्थ है। यह परमार्थ शून्य है क्योंकि वह व्यवहार की समस्त कोटियों से परे है। इस प्रकार तत्त्व शून्य है क्योंकि उसमें प्रपंच का अभाव है और यह प्रपंचात्मक जगत् ही शून्य है क्योंकि उसमें तत्त्व का अभाव है।

अब प्रश्न यह है कि यदि तत्त्व अनिर्वचनीय है तो उसका उपदेश एवं ज्ञान कैसे संभव है? नागार्जुन कहते हैं कि हमने व्यवहार का जो रूप तत्त्व पर आरोपित किया है, उसे सम्यग्ज्ञान द्वारा दूर कर तत्त्व का बोध कर सकते हैं। तत्त्व और जगत् में केवल विषयीगत भेद है, वस्तुगत नहीं। तत्त्व और जगत्, संसार और निर्वाण में अंतर नहीं है, कार्य और कारण से परे देखने में दोनों एक हैं।[8]

नागार्जुन का शून्यवाद सत्यद्वय पर आधारित है। एक संवृत्ति सत्य दूसरा परमार्थ सत्य। संवृत्ति मानवीय बुद्धि की क्रांति है, वह जगत् और उसकी घटनाओं का कारण है। शाब्दिक अर्थ में संवृत्ति का तात्पर्य आवरण है जो सत्य को आवृत्त किये हुए है। यह संवृत्ति भी स्वतः सिद्ध है, जैसे स्वप्न दृष्टि अपने स्वप्न को सत्य मानता है। संवृत्ति की असत्यता का ज्ञान

परमार्थ साक्षात्कार की अवस्था में होता है। इस अवस्था में ज्ञाता-ज्ञेय, सत्य-असत्य, बन्धन-मोक्ष ये सभी भेद मिट जाते हैं, किन्तु संवृत्ति और परमार्थ असम्बद्ध नहीं हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर पूर्ण अज्ञेयवाद आ जायेगा। संवृत्ति प्रतीति है फिर भी एक प्रकार का तत्व है।

परमार्थ अवर्णनीय है। माध्यमिक कारिका में नागार्जुन कहते हैं कि तत्त्व वह है जो अनुभव मूलक धारणाओं से शून्य है। यह अन्तःप्रज्ञा का विषय है। हम परमार्थ का साक्षात्कार संवृत्ति को त्याग कर नहीं कर सकते परन्तु सापेक्ष की सहायता से परमार्थ का साक्षात्कार कर सकते हैं।

माध्यमिक शून्यता को ही निर्वाण रूप मानते हैं। शून्यता का ज्ञान होने पर अशेष कल्पना जालरूप प्रपंच का विनाश हो जाता है और प्रपंच के नष्ट हो जाने पर समस्त विकल्पों की निवृत्ति हो जाती है। "शून्यता सर्व प्रपंच की निवृत्ति रूप होने से निर्वाण रूपा है।" माध्यमिक वृत्ति में नागार्जुन निर्वाण रूप शून्यता की पांच विशेषताएं बतलाते हैं– 1. अपर-सत्य स्वसंवेद्य है। 2. शांत-सभी धर्मों से रहित है। 3. प्रपंचातीत- जो वाणी द्वारा अव्याख्येय है। 4. निर्विकल्पक-सभी विकल्पों से रहित है। 5. अनानार्थ-वह अधर्मा है। इस प्रकार निर्वाण रूप शून्यता समस्त क्लेशों से रहित एवं परमसुख रूप है।

अद्वैत एवं शून्यवाद की तुलना

अद्वैत और शून्यवाद की तुलना करने पर दोनों ही दर्शनों में समानता एवं असमानता पाई जाती है। दोनों में साम्य का एक कारण तो यह है कि पारमार्थिक दृष्टि से दोनों ही दर्शन बाह्य पदार्थ को असत् (विवर्त) मानते हैं तथा असमानता का कारण दोनों की चिन्तन विधियाँ हैं।

शून्यवादी एवं अद्वैतवादी दोनों ही परमसत्य को अद्वैत मानते हैं। इस परमसत् को शंकर ब्रह्म कहते हैं और नागार्जुन शून्य। शून्यवादी जब शून्यता को निःस्वभाव और निर्गुण मानते हैं तो यह औपनिषदिक विचारधारा की ओर संकेत करता है। यहां परमार्थ तत्त्व को अपर, शान्त, निर्विकल्पक, अनानार्थ एवं प्रपंचातीत कहा है। अद्वैत वेदान्त में भी ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निर्विकार, शिव, सार एवं शान्त रूप है। इसी आधार पर दोनों में हमें तत्त्व के स्वरूप निरूपण में साम्य दिखाई देता है। जिस प्रकार वेदान्त में ब्रह्म और मुक्ति में भेद न होकर ब्रह्म ही मुक्ति स्वरूप है।[9] उसी प्रकार शून्यवाद में शून्यता ही निर्वाण है।

शून्यवादी सत्यद्वय की बात करते हुए कहते हैं कि संवृत्ति के आलम्बन के बिना परमार्थ का साक्षात्कार संभव नहीं है। परमार्थ की उपलब्धि में व्यवहार का भी योगदान रहता है। वेदान्ती भी ऐसा ही मानते हैं। ये दोनों ही दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि जब परमार्थ का साक्षात्कार हो जाता है तब शून्यवादियों के लिए संवृत्ति सत्य एवं अद्वैतवादियों के लिए व्यावहारिक सत्य की सत्ताएं शेष नहीं रह जाती हैं। किन्तु कुछ बातों को लेकर दोनों में वैषम्य भी है। अद्वैत वेदान्त में जहां परमार्थसत् अर्थात् ब्रह्म निश्चित रूप से 'सत्' माना जाता है, वहां शून्यवाद के अन्तर्गत अनेक प्रकार से शून्य की अनिर्वचनीयता का वर्णन किया जाता

है। इस प्रकार शून्यवाद में अनिर्वचनीयता से जिस सत्, असत्, सदसत् और अनुभयात्मक तत्त्व से भिन्न की ओर संकेत किया गया है, वह निश्चित ही अद्वैतवादियों के 'सत्' 'ब्रह्म से भिन्न है। वेदान्त में सदसद् भिन्नत्वादि लक्षण ब्रह्म के न होकर माया के हैं। इसीलिए यहां ब्रह्म को अनिर्वचनीय न कह कर माया को ही अनिर्वचनीय कहा है। दोनों में यही भेद है कि अद्वैती ब्रह्मावस्था में अलौकिक ब्रह्मानन्द का अनुभव स्वीकार करते हैं, वही शून्यवादियों ने मानसिक परमसुख की चर्चा की है।

शून्यवादियों के पारमार्थिक सत्य की तरह वेदान्ती भी व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करते हैं, साथ ही पारमार्थिक सत्ता को परमसत् भी मानते हैं। शून्यवादी पृथक रूप से प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं किन्तु इसके समकक्ष ही मिथ्या संवृत्ति की बात करते हैं। माध्यमिकों के अनुसार संवृत्ति अविद्यामूलक है और वेदान्ती भी व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्य का मूल माया या अविद्या को ही मानते हैं। नागार्जुन भी माया की तरह ही अविद्या रूपी संवृत्ति को आवरणकर्त्री और आरोपिका स्वीकार करते हैं।

जगत् सम्बन्धी विचारों की ओर दृष्टि करें तो अद्वैती जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हैं, यहां तक कि मुक्तावस्था में भी भौतिक जगत् का निराकरण नहीं करते हैं। अंतर केवल यही है कि मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी को जगत् और ब्रह्म के बीच उस भेद की प्रतीति नहीं होती है, जो उसे आत्म बोध होने पर होती है। शून्यवाद की स्थिति अद्वैत से ठीक विपरीत है। नागार्जुन जगत् के व्यावहारिक रूप का निराकरण करते हुए सर्वत्र शून्यता का ही प्रतिपादन करते हैं। जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश को लेकर भी दोनों के विचार भिन्न-भिन्न हैं। अद्वैत में माया से औपाधिक ब्रह्म से जगत् के पदार्थों की उत्पत्ति और उन्हें विनाशशील माना है।[10] वहीं शून्यवादी जगत् की उत्पत्ति और विनाश के विरोधी हैं। यहां जगत् की उत्पत्ति और विनाश को प्रतीत्य-समुत्पाद के आधार पर बताया है।

जीवन की चरमावस्था को अद्वैती मोक्ष और शून्यवादी निर्वाण कहते हैं। जिस प्रकार वेदान्त में परमार्थ अवस्था में निरोध, मुमुक्षत्व, मुक्तता आदि प्रश्न नहीं उठते हैं, वैसे ही शून्यवाद में निर्वाण को अनिवार्य कहा है। वे तो वास्तविक निर्वाण की प्राप्ति की परिकल्पना को ही मिथ्या ज्ञान कहते हैं। दोनों में ही मोक्ष अथवा निर्वाण की स्थिति में व्यावहारिक सत्ता ज्ञान का उच्छेद हो जाता है। दोनों ही मुक्तावस्था में प्रपंच के विलय को स्वीकार करते हैं। अद्वैतवादियों की जीवन मुक्ति की तरह शून्यवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि इस जन्म में निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। भगवान बुद्ध ने भी इसे माना है। बौद्धों के परिनिर्वाण और वेदान्तियों की विदेहमुक्ति में भी साम्य दिखाई देता है। यह साम्य होते हुए भी दोनों की मोक्ष विषयक धारणा में अंतर है। अद्वैत अवस्था में साधक मुक्तावस्था में स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। जबकि शून्यवादी निर्वाण को न तो भाव रूप मानते हैं और न ही अभाव रूप। अद्वैती जहां परमानन्द की बात करते हैं वहीं माध्यमिक भी परमसुख के अनुभव की बात करते हैं,

परन्तु यहां यह सुख निर्विषयक मन का सुख है, जबकि वेदान्त में आनन्द रूप है। एक अन्य भेद यह भी है कि वेदान्त में मोक्ष जीव का माना गया है जबकि शून्यवादी चित्त का निर्वाण स्वीकार करते हैं। इस प्रकार दोनों में भेद एवं साम्य दिखाई देता है।

योगाचार विज्ञानवाद

बौद्ध दर्षन की षाखा विज्ञानवाद के प्रवर्तक वसुबन्धु हैं। नागार्जुन बाह्य एवं आंतरिक दोनों सत्ताओं को अस्वीकार करते हैं। किन्तु वसुबन्धु यह कहते हैं कि क्या विज्ञान या चेतना की सत्ता है जो यह कह सके कि बाह्य जगत् शून्य है? विज्ञानवादी यह मानते हैं कि समस्त बाह्य वस्तुएं असत् हैं, वस्तुतः वे हमारे चित्त के ही प्रतिबिम्ब हैं। लेकिन हम अविद्याग्रस्त होने के कारण ही उन्हें बाह्य वस्तु समझते हैं। विज्ञान ही एकमात्र सत्य है, इसका बोध बुद्धि की चारों कोटियों द्वारा नहीं हो सकता है, बल्कि योग (ध्यान) तथा आचार द्वारा हो सकता है इसीलिए ये योगाचारी कहलाए।

लंकावतार सूत्र में चित्त तथा मन को विज्ञान का पर्यायवाची बताया गया है। विज्ञानवादी आंतरिक पदार्थ, चित्तादि की शून्यता को नहीं मानते हैं क्योंकि उनका यह मानना है कि कम से कम स्वसंवेदन को स्वीकार करना तो आवश्यक है। चित्त, मन तथा विज्ञान को स्पष्ट करते हुए लंकावतार सूत्र में कहा गया है कि चित्त आलय विज्ञान है। त्रिशिंका में वसुबन्धु ने जगत् को आत्म धर्म का उपचार तथा विज्ञान का ही परिणाम माना है। जगत् की सत्ता को प्रतिबिम्ब रूप में चित्त मात्र ही सिद्ध कर सकता है। इनके अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता पृथक-पृथक नहीं है। अतः बाह्य वस्तु की सत्ता असिद्ध है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि नीले रंग की संवेदना और नीले रंग के ज्ञान में कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों का पृथक-पृथक अस्तित्व ही नहीं है। यथार्थतः दोनों एक हैं, उन्हें दो समझना भ्रम है।

योगाचारी कहते हैं कि मन से बाह्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है, यदि उसे मान भी लिया जाए तो उसका ज्ञान असंभव है। अतः वस्तु विज्ञप्ति मात्र है। ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता संवृत्ति सत्य है। उसे वे न भाव रूप मानते हैं और न ही अभावरूप। (असंग-महायान, सूत्रालंकार) इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न-भिन्न न होकर चित्त मात्र ही है।

विज्ञानवादी चित्त को आलय विज्ञान मानते हैं। यह सभी क्लेशों को उत्पन्न करने वाले धर्मों का मूल स्थान है। स्थिरमति इस बीज स्थान और आलय को पर्यायवाची मानते हैं-'तत्र सर्व सांक्लेशिकधर्मबीज स्थानात् आलयः। आलयः स्थानामिति पर्याय। (त्रिशिंका भाष्य) यही समस्त प्रकार की मानसिक एवं भौतिक क्रियाओं का बीज स्थान है। इसे विपाक भी कहते हैं क्योंकि इसमें सभी लोक, सभी योनियाँ तथा शुभ-अशुभ कर्मों का संचय है। यह नित्य एवं शाश्वत न होकर क्षणिक प्रवाह रूप है। यह आलय विज्ञान उत्पत्ति, स्थिति और नाश रहित है। इससे जागतिक समस्याओं का समाधान हो जाता है, जागतिक विषय जो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं वे हमारे विज्ञान के अनुभव हैं।

विज्ञानवादी क्षणिकवादी हैं। क्षणिक विज्ञानवाद के अन्तर्गत प्रत्येक क्षणिक विज्ञान एक दूसरे क्षणिक विज्ञान को उत्पन्न करता है फिर नष्ट हो जाता है, वह विनष्ट हुए कार्य-कारण रूप में कार्य को उत्पन्न करता है। विज्ञानों की उत्पत्ति और निरोध का यह सतत् क्रम चलता रहता है। यही प्रतीत्य-समुत्पाद है। प्रतीत्य-समुत्पाद के अनुसार समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति एक प्रवाह के समान है। विज्ञानवाद में जागतिक सत्य का मूल संवृत्ति को माना है। यह संवृत्ति अविद्या रूप है। तत्त्व के परिज्ञान की आवरणक है। यह अविद्या रूपा संवृत्ति असत् पदार्थ के स्वरूप की आरोपिका तथा वस्तुओं के स्वभाव दर्शन में बाधक है। इस संवृत्ति के दो भेद माने गये हैं-एक तथ्य संवृत्ति और दूसरा मिथ्या संवृत्ति। तथ्य संवृत्ति, मिथ्या संवृत्ति की अपेक्षा सत्य है। परन्तु परमार्थ के साक्षात् होने पर दोनों ही मिथ्या सिद्ध हो जाती हैं। लंकावतार सूत्र में कहा गया है कि वस्तुतः यह द्वैत है ही नहीं, अविद्या के कारण ही द्वैत की अनुभूति होती है। ग्राहक-ग्राह्य भाव मिथ्या है और जगत् के समस्त भाव मायोपम हैं।

विज्ञानवादी परमसत्य को विज्ञप्ति मात्रता कहते हैं। यह भाव और अभाव दोनों से अतीत है। यह सुख-दुःख की कल्पना का विषय भी नहीं है। आचार्य असंग ने परमार्थ सत्य का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह सत्-असत्, जन्म-मरण, वृद्धि- ह्रास, शुद्धि-अशुद्धि आदि विकल्पों से मुक्त है। विज्ञानवादी आचार्यों ने इसे अलग-अलग नाम दिया है, रूप वही है। असंग और वसुबन्धु ने इसे विज्ञप्ति मात्रता कहा है। वे क्षणिकवाद के समर्थक हैं और निर्वाण काल में विज्ञान में सक्रियता नहीं मानते हैं। यह चरमसत्य शुद्ध चैतन्य, आनन्दरूप, अपरिवर्तनीय तथा अनिर्वचनीय है। लंकावतार सूत्र में इसे अलय विज्ञान कहा गया है। अश्वघोष ने इसे भूततथता कहा है। इसी विज्ञप्ति से जीव और जगत् की उत्पत्ति होती है। जब तक साधक का मन प्रपंच में लगा रहता है तब तक तत्त्व साक्षात्कार नहीं होता है किन्तु जब साधक स्वयं को परम तत्त्व में लीन कर देता है, तब उसे विज्ञप्ति मात्रता के स्वाभाविक स्वरूप का दर्शन होता है।

अद्वैत एवं विज्ञानवाद की तुलना

शंकराचार्य ने वैसे तो ब्रह्मसूत्र भाष्य में विज्ञानवाद के पूर्वपक्ष को स्थापित करते हुए इसका तर्कों के आधार पर निराकरण किया है।[11] फिर भी दोनों में समानता पाई जाती है क्योंकि दोनों ही दर्शन पारमार्थिकरूप से बाह्य पदार्थ को असत् मानते हैं। अतः दोनों में साम्य और वैषम्य पाया जाना स्वाभाविक है। अद्वैत वेदान्त और योगाचार विज्ञानवादी दोनों ही अपनी-अपनी दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत परमार्थ तत्त्व की अद्वैतता को स्वीकार करते हैं। साथ ही उसे सर्वव्यापक भी मानते हैं। दोनों ही सत्य को मन-वाणी से अतीत और परे मानते हैं। किन्तु शांकर वेदान्त में यह अभाव रूप नहीं है—

'वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते।'[12]

अद्वैती ब्रह्म को सत्य रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु विज्ञानवादी परम तत्त्व को सत्, असत् एवं सदसद् से विलक्षण मानते हैं।

योगाचारी एवं अद्वैती दोनों ही भौतिक जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं, किन्तु दोनों के निरूपण में भेद है। योगाचारी बाह्य जगत् की उपलब्धि का ही निराकरण करते हैं। शंकर बाह्य जगत् का निराकरण तो करते हैं, किन्तु उसे वे योगाचारों की तरह कल्पना मात्र नहीं मानते हैं वे जगत् की व्यावहारिक सत्ता को मानते हैं, किन्तु जगत् मिथ्यात्व के द्वारा नामरूपात्मक प्रपंच का निषेध करके उसे सत्, असत्, विलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहते हैं और बौद्ध दर्शन में तो सब कुछ अनिर्वचनीय ही है।

बाह्य जगत् की सत्ता को विज्ञानवादी स्वप्न मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार स्वप्न, माया आदि का ज्ञान बाह्य अर्थ के बिना बाह्य-ग्राहक अर्थ में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार जागृत अवस्था के ज्ञान भी हो सकते हैं, क्योंकि दोनों के प्रत्यय समान हैं। अतः वे जाग्रत एवं स्वप्न अवस्थाओं के प्रत्ययों में समानता मानते हैं। लेकिन शंकराचार्य जाग्रत और स्वप्न में वैधर्म्य मानते हैं। स्वप्नकालिक अनुभव स्मृति रूप है और जगत् काल के अनुभव उपलब्धि रूप हैं।[13]

विज्ञानवादी संवृत्ति और परमार्थ, सत्ता के ये दो रूप स्वीकार करते हैं। शंकर सत्ता को द्विविध रूप में न मानकर त्रिविध रूप मानते हैं, प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक। जहां तक पारमार्थिक सत्य का प्रश्न है दोनों ही अद्वैतता को स्वीकार करते हैं। जहां तक योगाचारों के संवृत्ति सत्य का प्रश्न है वह बहुत कुछ अद्वैतियों की व्यावहारिक सत्ता के समान है। वेदान्त में व्यावहारिक सत्ता का मूल अविद्या या माया है उसी प्रकार विज्ञानवाद में भी संवृत्ति अविद्या रूप है। अविद्यारूप संवृत्ति वस्तुओं के स्वभाव सत्य का आवरण रूप है और वही अविद्यारूप से असत् पदार्थों की आरोपिका भी है। अतः शंकर जिसे व्यावहारिक सत् कहते हैं, योगाचारी उसे सांवृत्तिक सत्य कहते हैं। जो कार्य संवृत्ति के माने गये हैं, वे ही माया के भी माने गये हैं। संवृत्ति के समान ही माया की आवरण शक्ति ब्रह्म के स्वरूप का आवरण करती है और विक्षेप शक्ति जगत् की निर्मात्री है। संवृत्ति और माया दोनों ही अविद्या रूप हैं। इस प्रकार वेदान्त और योगाचार में व्यावहारिक सत्य एवं सांवृतिक सत्य को लेकर समानता है फिर भी कुछ मौलिक मतभेद हैं। वेदान्त में जगत् की व्यावहारिक सत्ता है, लेकिन सांवृत्तिक सत्य केवल मिथ्या दृष्टि वालों के लिए ही है। यद्यपि वसुबन्धु शंकर की तरह प्रातिभासिक सत्ता का निरूपण नहीं करते हैं, किन्तु उनकी मिथ्या संवृत्ति की धारणा प्रातिभासिक सत्ता का ही संकेत करती है। वसुबन्धु ने भी निःस्वभाव विज्ञप्ति मात्रता को, परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न रूप त्रिस्वभाव में वर्णित किया है, जो शंकर के त्रिविधा सत्ता निरूपण के समकक्ष माने जाते हैं। किन्तु यह निरूपण पूर्णतः समान है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि योगाचार व्यावहारिक सत्ता नहीं मानते हैं और परमार्थ को भाव-अभाव से अतीत कहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन में शंकर-वेदान्त और बौद्ध माध्यमिक-शून्यवाद एवं

योगाचार-विज्ञानवाद की तुलना की और दोनों में समानता एवं भेद का निरूपण किया। दोनों की समानता को देखकर समालोचक इनकी समानता को ध्यान न देकर शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न-बौद्ध' तक कह देते हैं। लेकिन अद्वैती शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहना संगत नहीं है। दोनों ही दर्शन उपनिषदिक सत्यों पर आधारित होने से ही समानता रखते हैं, जो कि स्वाभाविक है। किन्तु दोनों में मौलिक भेद है। ब्रह्म सूत्र शंकर भाष्य में शंकराचार्य ने विज्ञानवाद आदि बौद्ध मतों का निराकरण किया है।[14]

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि सभी दर्शनों में कुछ-कुछ साम्य और भेद तो पाए ही जाते हैं। साम्य का कारण तो यही है कि सभी दर्शनों का मूल पृष्ठाधार उपनिषद् ही है, किन्तु अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना सभी दर्शन अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसा के आधार पर करते हैं। अतः स्वतः ही सत् के स्वरूप निरूपण में भेद आ जाता है। जब सत् के स्वरूप में भेद आता है तो उसको जानने के साधन रूप प्रमाणों में भी भेद आ जाता है और तत्त्व-साक्षात्कार की विधियां भी स्वतः भिन्न-भिन्न हो जाती है। अतः शंकर वेदान्त और बौद्ध योगाचार और शून्यवाद में साम्य होते हुए भी वैषम्य है और दोनों को न एक ही कहा जा सकता है और न ही शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहना समीचीन है।

संदर्भ सूची :

1. सर्वार्थसिद्धि, 1/1/6, पृ.04।
2. ब्र.सू.शा.भा. 1/1/2।
3. ब्र.सू.शा.भा. 4/3/14।
4. ब्र.सू.शा.भा. 3/2/22।
5. न्या.सू. 1/2/22।
6. ब्र.सू.शा.भाष्य 1/4/3।
7. ब्र.सू.शा.भा. 1/4/3।
8. माध्यमिक कारिका,... (नागार्जुन)
9. ब्र.सू.शा.भा. 3/4/52।
10. ब्र.सू.शा.भा. 2/2/26।
11. ब्र.सू.शा.भा. 2/2/28-32।
12. ब्र.सू.शा.भा. 3/2/22।
13. ब्र.सू.शा.भा. 2/2/29।
14. ब्र.सू.शा.भा. 2/2/28-32।

— सहायक आचार्य
जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं (राज.)